चंडीगढ़ जनसत्ता, मार्च 1993

जन विज्ञान आंदोलन के समाजशास्त्र की जरुरत

देश के कई हिस्सों में भारतीय जनविज्ञान के करीब तीस संगठन काम कर रहे हैं। इस आंदोलन के समाजशास्त्र के अस्तित्व को लेकर कई सवाल भले ही उठें, लेकिन इसकी ज़रूरत तेजी से महसूस की जाने लगी है।

न्यू यार्क शहर में चौथी कक्षा में पढ़ रही एक बच्ची ने एक कविता लिखी - 'पिल्ले कहां से पाया तूने भौंकना/ ड्रागन कहां से पाई यह आग/ बिल्ले कैसे पाया म्याऊं-म्याऊं / गुलाब कहां से पाई यह सुर्खी / चिड़िया कैसे उग आए पंख तुम्हारे।' हाल में प्रकाशित केदारनाथसिंह की एक कविता भी इसके साथ याद आती है - 'पूछो यह दिन है कि रात/ पानी है कि टिटिहिरी की चीख/ दिल्ली है कि दौलताबाद/ पूछो.....'

विज्ञान की सर्वमान्य परिभाषा या कम से कम कोई सर्वमान्य विशिष्टता ढूंढते हुए हम इन कविताओं को पढ़ें तो मानव, प्रकृति और मानव तथा प्रकृति के आपसी संबंधों के बारे में निश्छल बच्चों-सी उत्सुकता का एक तत्व सामने आता है, जो वाकई विज्ञान की प्राथमिक परिभाषा है। सवाल करने और सवालों को बनाने की प्रक्रिया ही देशकाल की विविधताओं से अलग हटकर एक सार्वभौमिक और सर्वकालीन गुणधर्म है, जिसे हम वैज्ञानिक सोच या वैज्ञानिक प्रयास कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि प्रयोगधर्मिता या प्रयोगों के निष्कर्षो की देशकाल निरपेक्ष प्रमाणिकता वैज्ञानिक संस्कृति नहीं है, बल्कि ये विशिष्टताएं विज्ञान की ठोस संरचना बनाती हैं। सवालों के बुनियादी आधार पर खड़ी एक संरचना एक सामाजिक अस्मिता की तलाश में हो, ऐसा सहज ही स्पष्ट हो जाता है। सवाल तभी उठते हैं, जब उनके संभाव्य जवाब भी हों, या यूं कहें कि कम से कम जवाब मिलने की निश्चित संभावना हो। अगर सवालों को कहने की या अभिव्यक्त करने की कोई जरुरत है तो इसका अर्थ है कि ये जवाब सहज ही उपलब्ध नहीं हैं। अगर जवाब आसानी से न मिल सकें, तो निश्चित ही उनको ढूंढने के तरीकों के बारे में कुछ लोगों को पता हो सकता है और दूसरों को नहीं। प्रश्नों के उत्तर ढूंढने की प्रक्रियाओं और उनकी संरचना पर जिनका नियंत्रण नहीं है, वे ही 'जन' हैं और इन प्रक्रियाओं को उन तक ले जाने के विभिन्न प्रयासों को ही 'जन-विज्ञान आंदोलन' कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि यह आंदोलन वैज्ञानिक प्रयासों के एक छोटे अंश को ही जन-जन तक ले जाने का प्रयास कर सकता है। साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि क्या ऐसा भी कोई विज्ञान है जो जनता के लिए नहीं है - अगर प्रश्न करना ही विज्ञान की नींव है तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इस सवाल का जवाब हमें विज्ञान की विविध सतहों की ओर

ले जाता है और एक उलझी हुई दुनिया में खो जाने की संभावना यहां है। सिर्फ इतना स्पष्ट है कि प्रश्नों का होना और उनके उत्तर ढूंढने के तरीकों पर वर्ग-विशेष के नियंत्रण की सीमा को लांघने की कोशिश जनविज्ञान आंदोलन की सामाजिक अस्मिता की पहली व्याख्या है।

आधुनिक विज्ञान के मूलभूत सवालों की जटिलता में पूर्णरूपेण जूझे हुए वैज्ञानिक ही क्या वे लोग हैं, जिनका वैज्ञानिक सोच और पद्धतियों पर पूरा नियंत्रण है ? ऐसा सामान्यीकरण सही नहीं है, पर वैज्ञानिकों को एक सामाजिक वर्ग मानने पर उनमें से कुछ लोगों के जनता तक विज्ञान ले जाने के प्रयास से भी जनविज्ञान आंदोलन का एक सामाजिक चरित्र उभरता है। ऐसा कई लोग सोचते हैं कि एक सक्रीय वैज्ञानिक आंदोलन से नहीं जुड़ सकता। वैज्ञानिक शोध के लिए जिस स्तर के समर्पण भाव और परिश्रम की आवश्यकता है, उसमें आंदोलन की कोई जगह नहीं है, हालांकि कुछ अंश तक यह बात सच है, पर अगर हम इस सदी के महानतम वैज्ञानिक एल्बर्ट आइन्स्टाइन को ही लें, जिनका वैज्ञानिक शोध निश्चित रूप से तत्कालीन मानवीय समस्याओं से बहुत दूर और अमूर्त्त था, तो हम पाते हैं कि वे निरंतर समकालीन आंदोलनों से जुड़े रहे और मानव के संदर्भ में विज्ञान के औचित्य के बारे में गहरी दार्शनिक समझ का विकास उन्होंने किया, उनके शब्दों में "वास्तविकताओं को देखते हुए हमारा समूचा वैज्ञानिक ढांचा बहुत ही पुरातन और बच्चों की हरकत सरीखा है - (फिर भी हमारी सबसे मूल्यवान निधि यही है)" । आइन्स्टाइन की इस उक्ति से यह साफ हो जाना चाहिए कि जनांदोलन (चाहे वह जनविज्ञान से हटकर भी कुछ हो) में शामिल होने के लिए उच्च-स्तर के वैज्ञानिक शोध से विमुख होना या उसके खिलाफ एक सैद्धांतिक तर्क पेश करना जरुरी नहीं।

इसी तरह सोचते हुए हम विज्ञान, वैज्ञानिक शोध और उसकी उपयोगिता पर वास्तविक नियंत्रण करने वाली ताकतों के सामाजिक चरित्र को देखते हैं, तो वह आधुनिक पूंजीवादी समाज के सामरिक-औद्योगिक स्वरुप में सामने आता है या कहीं-कहीं 'राज्य' की भूमिका दिखलाई पड़ती है; इसे देखते हुए जनविज्ञान आंदोलन की सामाजिक अस्मिता की एक और व्याख्या उभरती है। अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जनविज्ञान आंदोलन के समाजशास्त्र के अस्तित्व के बारे में भले ही प्रश्न उठाए जा सकते हैं, पर इस समाजशास्त्र की जरुरत क्रम से सामने आ रही है। आगे जनविज्ञान आंदोलन के सामाजिक वैशिष्ट्य के अन्य पक्षों पर हम ध्यान देंगे।

आखिर जनविज्ञान आंदोलन की शुरुआत कहां से होती है ? जब भी मानव समाज में सहकारिता की एक इकाई बनी होगी, प्रकृति और मानव एवं उनके आपसी संबंधों पर सवाल उठे होंगे और सवालों के जवाब पर किसी तक पहुंचा पाने की जरुरत सामने आई होगी, आधुनिक काल में हमारे देश में भी बीसवीं सदी की शुरुआत से ही आम आदमी तक विज्ञान के आंदोलन का संकेत पाते हैं। तीसरे दशक में जब कलकत्ता में सत्येंद्रनाथ बोस, सर सी वी रमन, मेघनाद साहा आदि के समय विश्व स्तर पर श्रेष्ठ वैज्ञानिक शोध कार्य हो रहा था, इसके साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन की लहर में बंगाल, केरल व देश के कई अन्य प्रांतों में छोटे शहरों

और कहीं-कहीं गावों तक आधुनिक विज्ञान की अवधारणाओं और उनकी उपयोगिता के बारे में जागरूकता फैलाने के लिए समितियां और पुस्तकालय आदि भी बने। इनका स्वरुप आमतौर से समाज सेवा की तरह था और एक संगठित पेशेवर भूमिका इनकी नहीं थी। विश्व स्तर पर संगठित रूप में जनविज्ञान आंदोलन दूसरे विश्व युद्ध और हिरोशिमा-नागासाकी पर परमाणु बम गिरने के बाद उभरे। आइन्स्टाइन जैसे वैज्ञानिकों की इनमें विशेष भूमिका रही। साठ के दशक तक यह स्पष्ट होने लगा था कि विज्ञान जनोन्मुखी न होकर क्रम से सुविधा संपन्न वर्गों और शाशक वर्गों के हितों की ओर समर्पित होता जा रहा है। यहां तक कि रूस जैसे समाजवादी देश में भी 'जेनेटिक्स' पर काम कर रहे वैज्ञानिकों को लताड़ा गया और वैज्ञानिकों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण की सरकारी कोशिश पुरजोर रही। हिटलर की नस्लवादी नीतियों से विज्ञान के दुरूपयोग और विज्ञान कार्य में रत पेशेवरों की असुरक्षा के सवालों से अभी तक पूरी तरह जूझना संभव ही नहीं हुआ था, जब अमरीका ने वियतनाम और कंपूचिया में वैज्ञानिक शोध का बुरी तरह दुरूपयोग करना शुरू किया चूंकि ये देश छोटे-छोटे पोखरों से भरे हुए हैं और 'नेपाम' के विस्फोट से लगी चोटों से बचने के लिए लोग इन पोखरों में कूद जाते थे, अमरीका की 'डाओ केमिकल्स' ने खासतौर पर फास्फोरस बम का आविष्कार किया, जिसके टुकड़े पानी में भी जलते रहते हैं और शरीर में चुभने के बाद पानी के संपर्क में आकर वे मनुष्य को असहनीय कष्ट देते हैं। जहां एक ओर व्यापक स्तर पर विज्ञान को ध्वंस के लिए इस्तेमाल में लाया जा रहा था, वहीं विवेकवान विज्ञान कर्मियों को निरंतर सरकारी प्रताड़ना का शिकार होना पड़ रहा था, 'राज्य' या समाज के अन्य वर्गों के साथ इस तरह के द्वंद्वात्मक और विरोधी सामीप्य से भी जनविज्ञान आंदोलन की एक सामाजिक व्याख्या की जा सकती है। हमारे देश में इस तरह के प्रताड़क संबंधों से गुजरते जनविज्ञान आंदोलन पर चर्चा आगे होगी।

साठ के दशक में संगठित रूप से कुछ वैज्ञानिकों ने विज्ञान कार्य में संसाधनों के स्रोत और दुरुपयोग पर आलोचना शुरु की। दरअसल साठ के दशक से अभी तक संयुक्त राज्य अमरीका में वैज्ञानिक शोध कार्य में अधिकतर आर्थिक सहयोग गैर अकादमिक और सामरिक-औद्योगिक स्रोतों से ही होता रहा है। हालांकि जापान या पश्चिमी यूरोप के देशों में स्थिति इतनी बुरी नहीं है, फिर भी जापान और जर्मनी के अलावा अन्य देशों में स्थिति चिंतनीय ही रही है। दरअसल, वर्तमान समय में आर्थिक मंदी से गुजरते हुए इन सभी देशों में विज्ञान के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से सहयोग में भारी कटौती आई है। इन देशों में विश्वविद्यालयों में भी शोध कार्य अधिकतर निजी क्षेत्र (यानी बहुराष्ट्रीय उद्योगों) और सामरिक स्रोतों से मिले आर्थिक सहयोग से ही होता है। इन परिस्थितियों को देखते हुए संगठित रूप से इन देशों में जनविज्ञान आंदोलन का विकास स्वभाविक है। साठ के दशक से ही इन देशों में 'साइंस फॉर द पीपुल' नामक कई संगठन बने, जिन्होंने शोध कार्य, प्रकाशनों और अक्सर सक्रिय असहयोग और सत्याग्रही आंदोलनों के द्वारा विज्ञान की दिशा पर सवाल उठाए और जनविज्ञान की प्राथमिकताओं को सामने रखा।

हमारे देश में भी साठ के दशक में कई कारणों से जनविज्ञान आंदोलन के संगठित रुप स्वरुप उभरे। विदेशों में उच्च शिक्षा के लिए गए शोधार्थियों ने पश्चिमी साम्राज्यवाद और तीसरी दुनिया के शोषण को नजदीकी से देखा और समझा। कईयों को पश्चिमी देशों और हमारे देश की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों में व्यापक अंतर देख कर बड़ी तकलीफ हुई। वापस लौटकर इन्होंने देश में सक्रिया जनोन्मुखी विज्ञान कर्मियों से संपर्क किया और अलग-अलग क्षेत्रों में सामूहिक प्रयास से अलग-अलग प्राथमिकताओं के साथ जनविज्ञान आंदोलन संगठित रूप में उठ खड़ा हुआ, केरल में पहले से चलता आ रहा केरल साहित्य शास्त्र परिषद (केएसएसपी) सांस्कृतिक और अन्य गतिविधियों के जरिए लोगों तक आधुनिक विज्ञान पहुंचाने को उठ खड़ा हुआ। मध्य प्रदेश में 'किशोर भारती' की स्थापना हुई और एक अनोखी विज्ञान शिक्षण पद्धति का विकास इस संगठन ने किया, बंगाल में तत्कालीन राजनैतिक जनांदोलनों के प्रभाव से जनोन्मुखी संचेतना करीब-करीब हर पेशेवर वैज्ञानिक में थी ही। दो सौ से अधिक विज्ञान क्लब केवल कलकत्ता और उसके आसपास सक्रिय थे। गंभीर प्रकाशनों और शोध कार्य के जरिए एक सशक्त जनविज्ञान आंदोलन यहां उभरा। इन सभी आंदोलनों के सांगठनिक रूप में एक नया चरित्र स्पष्ट था, जैसे संसाधनों के लिए व्यापक तलाश आर्थिक सहयोग के लिए सरकारी, गैर सरकारी या स्थानीय स्रोतों की उपयोगिता पर बहस आदि। इन आंदोलनों में सैद्धांतिक तत्व बहुत गंभीरता से जुड़े हुए थे। सत्तर के दशक मे पंजाब और आसपास के क्षेत्रों में सक्रिय 'रैशनलिस्ट सोसाइटी' का अंधविश्वास के खिलाफ कट्टर आंदोलन और ऐसा ही महाराष्ट्र के 'लोक विज्ञान संगठन' में भी यह बात देखी जा सकती है ।

(जारी)

लाल्टू

जनविज्ञान आंदोलन के समाजशास्त्र की जरुरत

— लाल्टू

एक मार्च के अंक में आपने इस व्याख्यान का पहला भाग पढ़ा। यह दूसरी और अंतिम किस्त है।

अब हम जन-विज्ञान आंदोलन के स्वरुप और इसके कार्य क्षेत्र पर आएं, वैज्ञानिक शिक्षण (सिर्फ विज्ञान-शिक्षण नहीं) - औपचारिक या अनौपचारिक, पर्यावरण (मानवोन्मुखी या प्रकृति-उन्मुखी), स्वास्थ्य, नारी, बच्चों आदि विषयों के अलावा विज्ञान के इतिहास पर शोध आदि कई क्षेत्रों में जन-विज्ञान ने सक्रिय भूमिका निभाई है। यह समझना जरुरी है कि एक शिक्षा-आंदोलन, पर्यावरण-आंदोलन, नारी-आंदोलन आदि से शिक्षा, पर्यावरण, नारी विषयक क्षेत्रों में जन-विज्ञान की भूमिका अलग है। अधिक विस्तार से इसको समझने पर हम देखते हैं कि मुख्यतः जन-विज्ञान आंदोलन के दो स्वरुप हैं - विज्ञान को लोकप्रिय बनाना और वास्तविक जन-विज्ञान आंदोलन (अंतर स्पष्ट करने के लिए इसे हम विज्ञान-जनांदोलन कहेंगे)।

विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के पीछे जो सैद्धांतिक समझ है, उसमें विज्ञान को प्रगति, तर्कशीलता, तकनीकी और मानव की भलाई का आधार माना गया है, विज्ञान को दुनिया को जादुई तरीके से बदलने के लिए समर्पित एक मानवीय प्रयास भी माना गया है। विज्ञान-जनांदोलन में विज्ञान को सवाल खड़ा करने का एक दर्शन माना गया है। विज्ञान सत्ता के खिलाफ सवाल करने का एक तरीका है। फलतः विज्ञान सामाजिक-राजनैतिक वास्तविकताओं से नियंत्रित एक सामूहिक पेशेगत अभ्यास है, विज्ञान एक राजनैतिक औजार है, शोषण और संघर्ष का एक द्वंद्वात्मक तरीका है।

विभिन्न क्षेत्रों में इन दो परिप्रेक्ष्यों से सवालों या विषयों का निर्णय भिन्न होगा। जैसे शिक्षा को लें। मध्य प्रदेश की एकलव्य संस्था द्वारा संचालित होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की माध्यमिक स्तर की पाठ्य-पुस्तक “बाल-वैज्ञानिक” में एक अध्याय है, जिसमें मिट्टी के बारे में कुछ प्रयोग बच्चों से करवाए जाते हैं। मिट्टी की संरचना, मिट्टी में चिकनी, पथरीली आदि अलग-अलग उपादानों का होना शिक्षण का एक विषय है - इसे हम लोकप्रिय विज्ञान की पद्धति कहेंगे, जबकि तवा नदी पर लगे बाँध से रिसते पानी की वजह से आसपास की जमीन का दलदली होना और इससे संबंधित विषयों पर किए गए सवालों को हम विज्ञान-जनांदोलन कह सकते हैं। इसी तरह सामाजिक अध्ययन में भी इन दो परिप्रेक्ष्यों से हम फर्क देख सकते हैं।

जबकि पहले परिप्रेक्ष्य से सामाजिक अध्ययन में महज वैज्ञानिक पद्धतियों के उपभोग की बात ही हो

सकती है, वहीं जनांदोलन के परिप्रेक्ष्य से सामाजिक द्वंद्वों के वैज्ञानिक व्याख्या की तलाश को जरूरी माना जाएगा। पर्यावरण-विषयक जानकारी एक बात है, जैसे आपके आसपास जीव-जगत के बारे में जानकारी और पर्यावरण के विनाश और पर्यावरण और मानव के संबंधों को ध्वंस किए जाने के खिलाफ वैज्ञानिक सवालों को खड़ा करना जनांदोलन का हिस्सा हो जाता है (नर्मदा पर बाँध के सुझावों की एक वैज्ञानिक आलोचना मध्य प्रदेश की 'एकलव्य' संस्था ने की है, जिसमें इसके तकनिकी और आर्थिक पक्षों को बिना किसी राजनैतिक पक्ष लेते हुए सामने रखा गया है)। इसी तरह स्वास्थ्य पर वैज्ञानिक जानकारी के लिए शिविर लगाए जाते हैं, पर न्यूनतम पोषण के लिए कितनी आय होनी चाहिए - इस तरह का सवाल विज्ञान-जनांदोलन ही उठा सकता है। नारी-विषयक वैज्ञानिक सवाल मूलतः स्वास्थ्य संबंधी हैं, पर नारी की स्वतंत्र सत्ता के दमन से जो जटिल मनोवैज्ञानिक प्रभाव हो सकते हैं, उनकी व्याख्या हमें पहले परिप्रेक्ष्य से नहीं मिल सकती। बच्चों के लिए खिलौने बनाना और बच्चों से अत्यधिक शारीरिक काम करवाने के दुष्प्रभाव पर शोध - ये भी इसी तरह के दो अलग सवाल हैं। इसी तरह चूँकि किसी भी जाति का इतिहास उस जाति की अस्मिता से जुड़ा है, विज्ञान और वैज्ञानिक विकास का इतिहास लेखन कई जटिल सैद्धांतिक सवालों को सामने रखता है, जिन्हें ये दो परिप्रेक्ष्य अलग-अलग तरीकों से विश्लेषित करते हैं।

हमने विज्ञान को जानकारी के बतौर लोगों तक पहुँचाने को भी जन-विज्ञान आंदोलन माना है, जबकि ऐसा कई सक्रिय जन-विज्ञानी नहीं मानते। देश की वर्तमान परिस्थितियों में, जहाँ वाकई एक बड़ी जनसंख्या आधुनिकता से कहीं पीछे है, वैज्ञानिक जानकारी को भी एक महत्वपूर्ण काम मानना चाहिए। इसके अलावा जैसा कि उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है, विज्ञान-जनांदोलन सभी प्रयासों के बावजूद गैर-राजनैतिक नहीं हो सकता। इसे राजनीति से अलग रखने की कोशिश न केवल भ्रामक है, इससे संगठन में कई किस्म की दुविधाएं पैदा होतीं हैं। यह सच है कि राजनीति से जुड़ने का मतलब किसी राजनैतिक दल का पिछलग्गू होना नहीं है, पर बिल्कुल गैरराजनैतिक बनने की कोशिश भी एक जनांदोलन के लिए निरर्थक है।

अगर जनविज्ञान का एक परिप्रेक्ष्य निश्चित रूप से राजनैतिक है, तो हमें समाज में चल रहे दूसरे जनांदोलनों में विज्ञान की भूमिका और उनमें हो रहे सैद्धांतिक परिवर्तनों के साथ जनविज्ञान आंदोलन में हो रहे समांतर परिवर्तनों में भी सामाजिक अस्मिता की परिभाषा तलाशनी पड़ेगी। जनांदोलनों में विज्ञान की भूमिका पर प्रौढ़ जनविज्ञानी अनिल सद्गोपाल और अन्य कार्यकर्ताओं ने विषद लिखा है। मुख्यतः विज्ञान की चार विशिष्टताएं ऐसी हैं, जिनका उपयोग जनांदोलनों में हो सकता है। वैज्ञानिक सोच विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य की मांग रखती है, जो किसी भी जनांदोलन के लिए जरुरी है। सत्ता को कटघरे में रख उस पर निरंतर सवालों की बौछार करना विज्ञान का मूलभूत धर्म है।